॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

वर्ष : २
अंक : ३

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आषाढ़
२४७२

जिनवाणी स्तुति

हे जिनवाणी माता तुमको लाखों प्रणाम;
तुमको करोड़ों प्रणाम.....
शिवसुखदानी माता तुमको लाखों प्रणाम..... टेक
तू वस्तु स्वरूप बतावे, अरु सकल विरोध मिटावे;
स्याद्वाद विख्याता तुमको लाखों प्रणाम..... १
तू करे ज्ञाता का मण्डन, मिथ्यात्व कुमारग खण्डन;
हे तीन जगत की त्राता, तुमको लाखों प्रणाम..... २
तू लोकालोक प्रकाशे, चर अचर पदार्थ विकासे;
हे विश्वतत्त्व की ज्ञाता, तुमको लाखों प्रणाम..... ३
तू वस्तुस्वरूप सुझावे, सिद्धान्त-मर्म समझावे;
तू मेटे सर्व असाता, तुमको लाखों प्रणाम..... ४
हे मात कृपा अब कीजे, परभाव सकल हर लीजे,
'शिवराम' सदा गुण गाता, तुमको लाखों प्रणाम..... ५

(जिनेन्द्र स्तवन मंजरी, पृष्ठ १८३)

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग १५ दर्शक मासिक पत्र

एक अंक पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

देववाणी श्री समयसारजी पर
श्री कानजीस्वामी का प्रवचन

(१) आत्मा स्वयं शरीर, मन, वाणी तथा आठ प्रकार के कर्म रजकणों से बिल्कुल भिन्न वस्तु है, वह स्वतंत्र निर्विकारी तत्त्व है। अज्ञानी को उसकी अनादिकाल से खबर नहीं है, इसलिये पाँच इन्द्रियों में सुख मानता है, पर में मोह करता है और यह मानता है कि पर का मैं कुछ कर सकता हूँ। आत्मा ऐसा मोह, अज्ञानभाव से करता है किन्तु उसमें कर्म तो निमित्तमात्र है। कर्म परवस्तु है। परवस्तु आत्मतत्त्व को रोक सकता है अथवा लाभ कर सकता है, यह तीन लोक और तीन काल में नहीं बन सकता, किन्तु यह अपने स्वरूप को भूलकर 'यह शरीर, कुटुम्बादिक और शुभाशुभ परिणाम ही मैं हूँ', इस प्रकार मानकर, स्वरूप की सावधानी को चूककर, पर में रागी हो रहा है, यही वास्तविक मोह है। उसमें जड़कर्म निमित्तमात्र है। स्वयं पर में सावधान हुआ और स्वरूप में असावधान हुआ, तब जड़कर्म को निमित्तरूप कहा जाता है, और वह द्रव्यमोह है।

(२) आत्मा का वह ज्ञानस्वभाव कैसा है ?

समस्त लोक के ऊपर तैरता हुआ। तैरता हुआ का क्या अर्थ है—राग-द्वेष में एकमेक नहीं होना। राग-द्वेष और शुभाशुभ परिणाम से भिन्न अर्थात् अधिकाधिक रहता हुआ जो ज्ञानस्वभाव है, सो वह सबसे ऊपर तैरता है।

शरीरमन्दिर में विराजमान ज्ञानमूर्ति अंगार भिन्न है; जिसने ऐसे आत्मा को जान लिया, वह समस्त लोक के ऊपर तैर रहा है। मेरा स्वभाव स्पष्ट प्रगट निर्मल सब का ज्ञाता है, वह पररूप नहीं होता, यह जिसने जान लिया, वह समस्त लोक के ऊपर तैर रहा है। मेरा ज्ञानस्वभाव पर से निराला, प्रत्यक्ष उद्योत स्वभाव से सदा अंतरंग में प्रकाशमान है।

(३) वस्तु स्वभाव को जाने बिना कहाँ स्थिर हुआ जाय ? और स्थिर हुए बिना चारित्र नहीं होता तथा बिना चारित्र के मोक्ष नहीं होता, इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये चारित्र होना चाहिये और चारित्र होने के लिये यथार्थ ज्ञान चाहिये। श्री समयसारजी की ३१ वीं गाथा में पहचानने की बात कही है। पहचान होते ही तत्काल सब वीतराग हो जाते हों, सो बात नहीं है। जो जाना और माना, उसी में पुरुषार्थ करके क्रम-क्रम से स्थिर होता जाता है, यही वीतराग की सच्ची भक्ति है।

(४) (गाथा ३३) भगवान की स्तुति अपने आत्मा के साथ संबंध रखती है, किन्तु वह पर भगवान के साथ नहीं रखती। सामने बैठे हुये भगवान की ओर उन्मुखता का जो भाव है, वह शुभभाव है; उससे पुण्य बँधता है, किन्तु धर्म नहीं होता। स्त्री, पुत्रादि की और उन्मुखताबाला जो भाव है, सो अशुभभाव है; उस अशुभभाव को दूर करने के लिये भगवान की ओर शुभभाव में युक्त होता है; किन्तु आत्मा क्या वस्तु है तथा धर्म का संबंध तो मेरी आत्मा के साथ है, यह नहीं मानता, उसे भगवान की सच्ची स्तुति अथवा भक्ति नहीं हो सकती। इस लाल पीली दुनिया में जहाँ अच्छे शरीर, अच्छा खाना-पीना, घूमना-फिरना और मौज करना होता है, ऐसी पचरंगी दुनिया में जो रचा-पचा रहता है, उसे यह धर्म कहाँ से समझ में आ सकता है।

अज्ञानी अर्थात् जो अनादिकाल से अजान है और जो शरीरादि संयोग को अपना मानता है, उससे कहते हैं कि हे भाई! तेरी आत्मा का संबंध तेरे साथ है; पर के साथ नहीं है। तू अपने आत्मा के धर्म के संबंध को पर के साथ मानता हो, देव-शास्त्र-गुरु को भी अपने आत्मा के धर्म के संबंधरूप मानता हो तो वह सच्ची स्तुति नहीं। (आचार्यदेव ने समयसारजी की ३३ वीं गाथा में यह समझाया है)।

इसमें कोई पर नहीं कर सकता, ऐसा स्वतंत्र स्वभाव बताया है। जब तेरा ही आत्मा स्वरूप की जागृति के द्वारा प्रयत्न करता है और जब मोह का क्षय करता है, तभी मोह का क्षय हो जाता है। किन्तु उसे कोई पर कर देता हो, सो बात नहीं है, ऐसा स्वतंत्रस्वरूप बताया है।

श्री समयसारजी में आचार्यदेव ने निम्न दशावाले को कहा है कि तू अपने में जितना संबंध करेगा, उतनी सच्ची भक्ति होगी। परावलंबन से धर्म नहीं होता किन्तु अंतरस्वरूप में सम्यक्ज्ञान पूर्वक जितनी एकाग्रता / स्थिरता है, उतना धर्म है। पर की ओर का जो भाव है, सो शुभभाव-पुण्यभाव है। अशुभराग को दूर करके शुभ विकल्परूप राग होता है। यदि शुभराग न हो तो पाप राग हो, इसलिये ज्ञानी, अशुभराग को दूर करके शुभराग में युक्त होते तो हैं किन्तु शुभभाव विकारी भाव है; इससे मेरा धर्म खिलेगा—ऐसा वह नहीं मानता। तीनों प्रकार की (जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट) निश्चय स्तुति का संबंध तो आत्मा के साथ है।

आत्मधर्म : वर्ष : २ : अंक : ३ : १५ : आषाढ़ : : २४७२ :

सम्यक्त्वी की इंद्रपद प्राप्ति समय की भावना

(पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में से)

अरे! अपने स्वरूप का आनंद साधन कर रहा था, उसमें भंग पड़ा, तब पुण्य बँध गया और उस पुण्य का यह फल है। वह पुण्य मेरा नहीं है और यह पद भी मेरा नहीं है; इस प्रकार पहले से ही पुण्य को अस्वीकार करता चला आया है। न तो इन्द्रिय में सुख है और न इन्द्रपद में मेरा सुख है। मेरा सुख मेरे स्वरूप में है। जब मेरे आत्मा के सत्व की शक्ति मारी गई-हीन पड़ गई, तब यह पुण्य बँधा है और उसका फल है यह इन्द्रपद; जो कि सड़े हुये तिनके के समान है।

अरे! मेरे अतीन्द्रिय आनंद में लूट पड़ी, तब यह पुण्य बँध गया। मेरे स्वरूप का यह फल नहीं है। नहीं, नहीं; यह पद मेरा नहीं है। त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव तीर्थंकर कहाँ विराज रहे हैं? पहले वहीं दर्शन करने चलो। इस प्रकार स्वयं प्रथम ही तीर्थंकर भगवान के पास दर्शनार्थ जाता है और मंडली को भी साथ में ले जाता है।

पहले साक्षात् तीर्थंकर भगवान के पास जाता है, पश्चात् शाश्वत् प्रतिमाओं के दर्शन करने को जाता है—ऐसी भावना भावे कि—मेरा शुद्धोपयोग पूर्ण नहीं हुआ और शुभोपयोग के फल में यह पुण्य बँध गया। अब कब इसे टालकर स्वरूप की भावना को भाते-भाते केवलज्ञान प्राप्त करूँगा? वह घड़ी धन्य है जिस घड़ी में आत्मसाधना को पूर्ण करके केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। पड़ोस में घूरा हो किन्तु वणिक उसका मालिक नहीं बनता, उसी प्रकार सम्यक्त्वी धर्मात्मा इन्द्रपद का धनी नहीं होता। यह स्पष्ट इनकार करता है कि यह पद मेरा नहीं है, यह मेरी वीतरागता को रोकनेवाला है। स्वरूप की आनंद की रुचि में भावना को भाता हुआ पूर्ण वीतरागी नहीं हुआ, वहाँ यह पुण्य बँध गया, उसका यह फल है। हमारे स्वरूप का यह फल नहीं हो सकता। स्वरूप की साधना में जब भंग पड़ा, तब पुण्य बँध गया, किन्तु मेरी भावना तो संपूर्ण वीतराग पद की ही है। उसमें बीच में विघ्न करनेवाला यह पद मेरा नहीं है, इस प्रकार सम्यक्त्वी जीव, पुण्य को और पुण्य के फल को अस्वीकार करता है।

धन्य है सम्यक्त्वी तेरे सम्यक्त्व को!

आत्मा का घोर अपराध

[पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

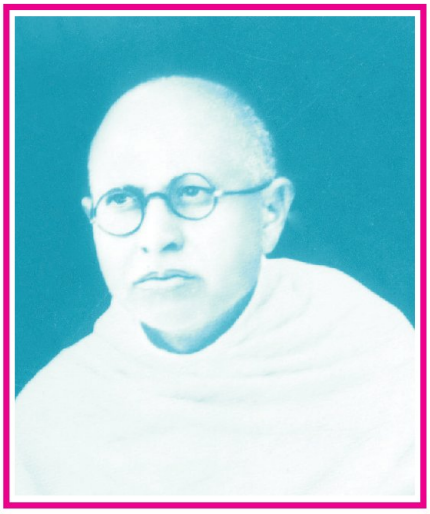

अपराध का अर्थ क्या है ?

यह आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, पर में सुखबुद्धि मान रहा है; इस प्रकार आत्मा अपना अपराध करता है। पर से सुख माना अर्थात् यह माना कि 'मुझमें संतोष होने लायक कुछ नहीं है, इसलिये पर हो तो मुझे संतोष हो' यही अपना अपराध है।

आत्मा अनादि-अनंत वस्तु है, उसका वीतरागी स्वभाव है, फिर भी उसकी खबर नहीं है; इसलिये यह मानता है कि यदि मेरे संतोष के लिये पर पदार्थ हो तो ठीक हो। आत्मा यह नहीं मानता कि 'मेरा सुख मुझमें है' यही उसका अपराध है।

चौरासी के जेल का कारण अपराध है

आत्म संतोष को प्राप्त श्रीगुरु से जन्म-मरण के दु:ख से दु:खी शिष्य पूछता है कि हे देव, हे प्रभु! जन्म-मरण का त्रास अपराध का फल है। कृपया बताइये कि वह अपराध क्या होगा ? अंतरंग में जिसे चौरासी के अवतार का त्रास अनुभव हुआ है और ऐसा लगा है कि अवश्य कोई अपराध है। क्योंकि यदि मैं अपराधी नहीं होता तो मुझे अपने से संतोष होना चाहिये था। मैं अनादिकाल से अभी तक अपराध करता चला आया हूँ किन्तु अपराध का स्वरूप नहीं जान पाया। इसलिये यहाँ पर उस शिष्य ने अपराध का स्वरूप पूछा है। यदि अपराध करता हुआ नहीं आया होता अर्थात् निरपराध होता तो यह पराधीनता नहीं होती। पराधीनता तो है, किन्तु अपराध का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सका। यदि अपराध के स्वरूप को जाना होता तो अपराध को दूर करके निरपराध रहता। जगत् में भी अपराधी को जेल मिलती है। उसी प्रकार शिष्य को जन्म-मरण जेल के समान मालूम होती है और इसीलिये जेल का कारण जो अपराध है, उसके स्वरूप को जानने के लिये वह तैयार हुआ है।

जिनने यह मान रखा है कि आत्मा के अतिरिक्त पर में सुख होगा, वे सब अपराधी हैं और चौरासी की जेल में पड़े हुये हैं। अंत:करण में ऐसा लगा कि यदि शरीरादिक और पुण्य अनुकूल रहें

तो सुख मिले। इस प्रकार परमुखापेक्षिता को लेकर पराधीनता में सुख मानता हुआ चौरासी की जेल में जा फंसा है। इस जेल का कारण उपरोक्त अपराध है, बिना अपराध के जेल नहीं होती।

शिष्य कहता है कि भगवन् यदि मुझे अपने सच्चिदानंदस्वरूप की प्रतीति हो जाय तो यह चौरासी की जेल न रहे। इसलिये अपराध तो है, उस अपराध का मतलब क्या है, अपराध क्या है, और कितना है ?

अपराध को अपराध के रूप में जान ले तो अपराध को दूर करे

जेल में पड़े हुये को जैसे जेल की आदत पड़ जाती है और उसे जेल का दु:ख नहीं लगता, ऐसे जेल के बंधन में जिसने सुख मान रखा है, उसे अपराध अथवा अपराध के फल का दु:ख ही नहीं मालूम होता। इसी प्रकार संसार की रुचिवाला जीव, जहाँ चौरासी के जन्म-मरण में से एक भव को पूरा करता है—उसकी देह की स्थिति को पूरा करता है, वहीं से वह शरीर के छोड़ने के साथ ही ऐसी भावना लेकर जाता है कि मेरा इस शरीर के बिना चल ही नहीं सकता, मेरा भव के बिना चल ही नहीं सकता और भव की परंपरा को काटना नहीं है तथा एक के बाद दूसरी देह धारण करके चौरासी के जन्म-मरण का चक्कर लगाना है। यहाँ पर शिष्य को भव का दु:ख मालूम हुआ है। यह अपराध का स्वरूप जानने के लिये तत्पर हुआ है। भगवान आत्मा चैतन्य ज्योति ज्ञानमूर्ति स्वरूप है। चैतन्यस्वरूप को अपने सुख के लिये पर की आवश्यकता होती है, यों मानना, सो चैतन्य का अपराध है। प्रभु, उस अपराध के स्वरूप को जानना है और उसे दूर करके निरपराध होना है। (निरपराध का अर्थ है मोक्ष)

यह तो उसके लिये है जिसको गर्ज पड़ी है। किसी को जबर्दस्ती नहीं समझाना है। जिसे अंतरंग से चोट लगी है, ऐसा शिष्य श्रीगुरु से कहता है कि—

प्रभु! मुझे पर की क्या आवश्यकता है, आत्मा को परवस्तु से संतोष है या मुझसे संतोष है। संतोष जैसी वस्तु मुझमें है या नहीं ? यहाँ पर शिष्य के ध्यान में तीन बातें आईं—

(१) उसे ऐसा जंच गया है कि मेरा अपराध है।

(२) चौरासी का अवतार जेल के समान प्रतिभासित हुआ है अर्थात् उसे जन्म-मरण के त्रास का अनुभव हुआ है।

(३) अपराध का स्वरूप उस ज्ञानी के पास से जाना जा सकता है, जिसने अपराध को जान लिया है।

अब शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हैं—

संसिद्धि सिद्धि राध आराधित साधित एक है।
इस राध से जो रहित है वह आत्मा अपराध है॥३०४॥
अरु आत्मा जो निरपराधी सो निशंकित होत है।
वर्ते सदा आराधना से जानता मैं आत्म को॥३०५॥

[श्री समयप्राभृत]

इन दो गाथाओं में आत्मा की अपराध और निरपराध दशा का वर्णन है।

(१) देह जड़ है, वह आत्मा की जाति नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है, उसके अतिरिक्त पर की भावना का होना, सो अपराध है।

(२) पर की इच्छा न होकर मेरे तत्त्व में सुख है; परद्रव्य की नास्ति के द्वारा मेरे स्वतंत्र स्वरूप में ही सुख है; इस प्रकार जो शुद्ध आत्मा की शुद्धि है, वही मेरा तत्त्व है।

शिष्य ने श्रीगुरु की विनय करके कहा है कि भगवन्! अपराध का स्वरूप और निरपराध का स्वरूप कहिये। एक के समझ लेने पर दूसरा भी मालूम हो जायगा। यदि निरपराध का स्वरूप समझ में आ जायगा तो अपराध का स्वरूप भी समझ में आ जायगा और यदि अपराध का स्वरूप समझ में आ जाय तो निरपराध का स्वरूप भी समझ में आ जायगा।

परद्रव्य के परिहार के द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि का होना, सो राध है और जो राध से रहित है, वह आत्मा अपराधी है।

अपराध, अपराध का फल और अपराध को दूर करने का उपाय

यदि निरपराध हो तो पर से पृथक् होकर स्वरूपानुभव के आनन्द में लीन हो; किन्तु वह आनन्द तो है नहीं, इसलिये वर्तमान अपराधयुक्त है। उस अपराध को दूर करने के लिये इस प्रकार का विचार करना चाहिये कि "मेरा आत्मा अशक्त या पराधीन नहीं है। मेरे सुख के लिए किसी पर की आवश्यकता नहीं है। मैं परिपूर्ण शुद्ध हूँ, स्वतंत्र हूँ, इस प्रकार का निरपराधभाव ही साधन है" आत्मा के सम्बन्ध में जितने अंश में पराश्रित होने का भाव है, उतने ही अंश में वह अपराधी है और उस अपराध का फल है संसार की जेल।

किसी परवस्तु से आत्मा को संतोष होता है, इस प्रकार की मान्यता के अभाव से आत्मा के पूर्ण स्वतंत्र स्वरूप की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें एकाग्रतारूप चारित्र, उन तीनों की एकता का होना, सो आत्मा का राध है।

परवस्तु में आत्मा का सुख अथवा संतोष तीन काल और तीन लोक में नहीं है; इस प्रकार की दृढ़ता का होना, सो आत्मा के निरपराध होने का उपाय है। परवस्तु के अभावसहित मेरा सुख मुझमे हैं; इस प्रकार अपने में ही सुख-शान्ति का निर्णय होना, सो निरपराधपन है। जिसके ऐसा निश्चयात्मक निर्णय नहीं है कि आत्मा में ही सुख-शान्ति है, वह अपराधी है। उन दोनों का यथार्थ पृथक् ज्ञान हुए बिना यह ज्ञान नहीं हो सकता कि मेरा क्या है और पर क्या ?

स्वतंत्र नि:शंक स्वभाव की नि:सन्देह आत्मश्रद्धा का होना, सो निरपराधपन है और स्वभाव में सन्देह तथा पर में नि:सन्देह होना, सो अपराधीपन है।

अपने स्वभाव में शंका की, स्वरूप से डरा, उसमें सन्देह हुआ और पर में सुख माना, सो अपराधी है; उस अपराधी को तीन काल और तीन लोक में चौरासी की जेल के सिवाय दूसरा फल नहीं मिल सकता। जो कर्म-निमित्तक विकारभाव को अपना मानता है, वह अपराधी है।

अपराध क्या है और कितना है ?

आत्मा ने पर में सुख माना, सो अपराध है और उसका फल है संसार की जेल। यह छोटी सी भूल नहीं है। अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य आदि अनन्त गुणों से परिपूर्ण स्वरूप का अनादर किया है। निर्मल, सहज चिदानन्दस्वरूप में सुख न मानकर पर में सुख को मानना, सो सामान्य अपराध नहीं है किन्तु स्वरूप के अनादर का महान अपराध है।

आत्मस्वरूप का अज्ञान और उसके कारण पर में सुखबुद्धि का होना, सो आत्मा का महान अपराध है। स्वरूप का अज्ञान, पर में लीनता और पर में सुख का लालच होना अपराध का कारण है।

शाश्वत स्थिर स्वभाव की प्रतीति के बिना, परवस्तु से सुख होगा—ऐसी नाशवान बुद्धि में अविनाशी का अनादर करना महान अपराध है। आत्मा के अविनाशी स्वरूप में सार न मानकर परवस्तु के नाशवान संयोग में सार मान लेना ही चौरासी की जेल का मूल है।

मूल अपराध क्या है ?

मुझमें सुख-शान्ति नहीं है, इस प्रकार स्वरूप का अज्ञान और पुण्य, प्रतिष्ठा, शरीर, स्त्री एवं राज्य इत्यादि में सुख की मान्यता का भाव, आत्मा का परम अपराध है। उसके फलस्वरूप जन्म-जरा-मरण की परम्परा चलती रहती है।

जो भाव, राधरहित होता है, वह अपराध है। अपराधरहित भाव आत्मस्वभाव है और निरपराधहीन भाव (अर्थात् अपराधसहित भाव) का होना अपराध है।

आत्मा, पर के आधार से रहित स्वतंत्र है। जो उस दृष्टि को भूलकर पर में सुख मानता है, वह आत्मा अपराधी है। जो आत्मा स्वयं अशुद्धरूप में परिणमन करता है, वह विराधक है। जब अपने में से सुख-शान्ति का निश्चय शिथिल होता है, तब पर की इच्छा होती है और इसीलिए शुद्ध आत्मा की सिद्धि नहीं होती। जो बाह्य दृष्टि में भटक जाता है, उसे साक्षीस्वरूप की अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति नहीं होती है। पर का ग्रहण होने से न तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि होती है और न आत्मा का विकास ही हो पाता है। जब तक जीव यह नहीं जान लेता कि आत्मा में सुख है और आत्मा अबन्ध (निरपराध) है, तब तक अपराधी है-गुनहगार है।

स्वभाव की शंका ही अपराध है

स्वभाव में सन्देह और पर में नि:सन्देहरूप अपराध के कारण अपने सुखस्वरूप स्वभाव में सन्देह हो गया है और जहाँ पर सुख नहीं है, वहाँ पर सुख मान बैठा है। इसलिए सुख का अनुभव नहीं होता।

हे चैतन्य भगवान! यदि तुझे अपनी वस्तु के स्वामित्व की प्रतीति हो जाय तो तू शरीरादि परवस्तु के स्वामित्व को स्वीकार न करे।

पर को ग्रहण करने की बुद्धि से और आत्मा में ऐसा सन्देह होने से कि मेरा पर के बिना चल ही नहीं सकता, उसे बन्ध की शंका है और यही अपराध है।

जिसे आत्मा में सुख-सन्तोष की शंका है, उसे भीतर से यह विकल्प उठा करता है कि "मैं पुण्य कर डालूं नहीं तो भविष्य में अनुकूलता नहीं मिलेगी। मानो मेरा स्वरूप तो बिल्कुल अनुकूलता हीन निर्माल्य है" इस प्रकार आत्मा के स्वामित्व को स्थापित नहीं करता और पर से सुख होगा—ऐसे भाव में उसे बन्ध की आशंका है तथा अपने घर की चैतन्य शान्ति को खोलकर उसका आनन्द भोग करने के स्वभाव में वह सन्तोष नहीं करता, बस यही अपराध है।

देह मन्दिर में भगवान आत्मा का स्वादिष्ट नैवेद्य भरा पड़ा है किन्तु उसकी उसे खबर नहीं है; इसलिये वह दूसरों से भीख माँगकर उसके द्वारा आनन्द लाना चाहता है। जहाँ आत्मा के अतिरिक्त पर को ग्रहण करने का भाव है और पर को लेकर सुख की मान्यता है, वहीं से अपराध प्रारम्भ हो जाता है।

पर में उपाय करने से भूल नहीं टल सकती

यहाँ पर मुख्य बात यह है कि अन्तरंग में भूल कहाँ है, यह जान लिया जाय। जहाँ भूल है, वहाँ उसे दूर करने का उपाय किया जाय तो भूल टल जायगी।

जैसे मुँह पर कोई दाग है और वह दर्पण में दिखाई देता है। यदि कोई उस दाग को दूर करने के लिए दर्पण को सौ वर्ष तक घिसता रहे तो भी मुँह का दाग नहीं मिटेगा। जहाँ पर मैल है, वहाँ पर तो उसे दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है और पर में प्रयत्न करता रहता है तो ऐसे मैल क्यों कर दूर होगा। इसी प्रकार आत्मा में जहाँ भूल है, उसे न जानकर यदि कोई शरीरादि को घिसता रहे तो उससे भूल दूर नहीं होगी। आत्मा अरूपी वस्तु है, उसका पर के बिना नहीं चल सकता, इस प्रकार की बुद्धि का होना, सो मैल है, भूल है, अपराध है।

अपराध क्या है और कहाँ है ?

''मुझे पर की आवश्यकता है। पुण्य के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता''—इस प्रकार की मान्यता ही अपराध है और उस अपराध का फल चौरासी की जेल है।

बाहर की सामग्री मिल जाय तो सुख हो अर्थात् मुझ अकेले में तो कुछ है नहीं, इसलिये बिना बन्धन के काम नहीं चलेगा। इस प्रकार की मान्यता के कारण मलिनता है। उसे अपनी अशुद्धता प्रतिभासित होती है। वह अशुद्धता पर्याय में है। वस्तु तो त्रिकाल शुद्ध ही है।

आराधना का अर्थ क्या है ?

आत्मा का दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, बाह्य क्रिया में नहीं किन्तु आत्मा में ही है।

मेरा सुख मुझमें है, इस प्रकार की शाश्वत श्रद्धा का होना, सो सम्यग्दर्शन है।

पर से भिन्न स्वतन्त्र स्वरूप को जान लेना, सो सम्यक्ज्ञान है।

पर से भिन्न स्वरूप में एकाग्र हो जाना, सो सम्यक्चारित्र है।

स्वरूप की प्रतीति से युक्त होकर पर की इच्छा को तोड़ देना, सो सच्चा तप है।

इन चारों की आराधना को लेकर जो व्यक्ति जहाँ भी जायगा, वहाँ उसकी आराधना साथ में होने से वह अपनी आराधना को पूर्ण करके पूर्ण स्वतंत्र स्वरूप को प्रकट कर लेगा।

स्वतंत्र स्वरूप का निश्चय, उसका ज्ञान, उसमें अन्तर्लीनता और उससे विरुद्ध इच्छा का त्याग, यह चार आराधना हैं। पर के बिना चल नहीं सकता, ऐसी मिथ्याबुद्धि को लेकर कोई चला गया और उसके बाद उसकी हड्डियों को नहलवा कर लोग यह मानते हैं कि 'पवित्रता हो गई, मरनेवाले को लाभ हुआ'—किन्तु उन्हें वह कहाँ खबर है कि मरनेवाले को नहलवानेवाला (पवित्र करनेवाला) उसका अपना आत्मा ही है। मैं जहाँ भी जाऊँगा, वहाँ मेरे आत्मा में पूर्ण आनन्द भरा होगा। मैं उसमें लीनता-एकाग्रता करके चाहे जिस काल में और चाहे जिस क्षेत्र में शान्ति को प्राप्त कर लूँगा। मुझे अपनी शान्ति के लिये पर की आवश्यकता नहीं है। मैं तो ज्ञाता, दृष्टा,

साक्षी स्वरूप हूँ। वृत्तियों का सर्व संयोग वृथा है। जिसका स्वरूप अविनाशी ज्ञाता, दृष्टा है ऐसा मैं उपयोग स्वरूप, चैतन्य, जाग्रतज्योति हूँ। जिसे ऐसे निश्चय का बल मिल गया, उसकी एक-दो भव में मुक्ति निश्चित है।

आत्मा के निर्दोष ज्ञानस्वरूप स्वभाव में लीन होना, सो आत्मा का व्यापार है।

जहाँ निश्चय का बल बढ़ा, वहाँ निर्णय को बढ़ाता बढ़ाता 'शुद्ध आत्मस्वरूप ही सुख हैं' इस प्रकार नि:सन्देह होकर बारम्बार 'मेरा सुख मुझमें ही है', यह निर्णय करके आगे बढ़ता हुआ मोक्ष में चला जाता है अर्थात् पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हो जाता है।

निश्चयमार्ग एक ही है। किसी भी प्रकार के भेद के बिना मात्र परिपूर्ण हूँ। वस्तु अधूरी—अपूर्ण नहीं होती। इस प्रकार स्वरूप के निश्चय को पुनरावृत्ति करता हुआ परमात्मपद को पा लेता है। आत्मा में परमात्मपद निहित है। उसके निर्णय का अभ्यास करता हुआ स्वयं ही प्रकट परमात्मा हो जाता है।

आत्मा शान्ति और आनन्द का कुंज है। उसके निश्चय को दृढ़ करने पर रागादि अज्ञान का नाश होकर आत्मा की स्वाधीन पूर्णानन्द दशा अर्थात् मोक्ष प्रकट हो जाता है। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इत्यादि सब आ जाते हैं।

आत्मा के स्वभाव का निश्चय करता हुआ, उसमें एकाग्र होने पर वह परमानन्द स्वरूप हो जायगा। उसे कोई विघ्न-बाधा नहीं आयेगी। उसका नाम 'स्वरूप-आराधक है और वही आत्मा निरपराधी है।'

निश्चय-व्यवहार का स्वरूप : संक्षिप्त अर्थ

निश्चय—स्वाश्रितभाव।

व्यवहार—पराश्रितभाव।

मुमुक्षुओं! विचार करो कि इन दो में से कौन सा भाव लाभकारक है। इसका एक ही उत्तर होगा कि स्वाश्रितभाव प्रगट हो और पराश्रितभाव दूर हो, यही लाभदायक हो सकता है।

निश्चय—स्वतंत्रभाव।

व्यवहार—परतंत्रभाव।

मुमुक्षुओं! कहो, स्वतंत्रभाव से सुख होगा कि परतंत्रभाव से?

उत्तर—स्वतंत्रभाव से ही।

卐 प्रश्नोत्तर 卐

पूज्य श्री कानजीस्वामी से किये गये प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न—संसारियों को पहले सुख के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—आत्मा को पहिचानना ही सर्व प्रथम कर्तव्य है।

प्रश्न—आत्मा को पहचानने के बाद क्या करना चाहिये ?

उत्तर—आत्मा की पहिचान होने के बाद 'क्या करना चाहिये' यह प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञान होने पर ज्ञान से ही ज्ञान प्रगट होता है।

प्रश्न—आत्मा की पहिचान करने का क्या साधन है ?

उत्तर—सत्समागम।

प्रश्न—सत्समागम कैसे होता है ?

उत्तर—निवृत्ति लेकर होता है, बाह्य क्रिया से नहीं होता।

प्रश्न—कोई कहता है कि 'मुझे आत्मज्ञान प्राप्त करना है, मैं समझता हूँ कि यही उत्तम है' यो कहनेवाले का लड़का जब बीमार होता है, तब वह जानता है कि 'यह लड़का मेरा नहीं है'—तब उसे क्या करना चाहिये ?

उत्तर—पहले उसे यह पहचान होनी चाहिये कि इस लड़के का मेरे द्वारा कुछ भी होने जानेवाला नहीं है, फिर भी वह स्वयं अभी वीतराग नहीं हुआ है, तब तक बचाने का भाव होता है।

प्रश्न—क्या कोई जीव, पुण्य के बिना पहले से ही कोई धर्म नहीं कर सकता ?

उत्तर—धर्म करते हुये बीच में पुण्य तो आता ही है, किन्तु पुण्य करते-करते धर्म होता है, यह त्रिकाल में ही कभी नहीं बन सकता।

प्रश्न—समझने के बाद क्या करना होता है ?

उत्तर—समझ लेने के बाद ही बहुत कुछ करना होता है—समझने के बाद स्वरूप में स्थिरता करनी होती है।

धर्म के लिये, आत्मा पर से भिन्न है और वह पर का कुछ भी नहीं कर सकता; इस प्रकार की श्रद्धा का होना प्रथम कर्तव्य है। चक्रवर्ती राज को भोगता हुआ भी अंतरंग में पर से पृथक्त्व की प्रतीति करता है। यथार्थ पहचान अलग वस्तु है और शुभक्रिया अलग वस्तु है।

प्रश्न—पहचान करने के लिये कुछ शुभभाव तो करना ही चाहिये ?

उत्तर—पहचान अंतरंग के शुद्धभाव से होती है। शुभभाव करते-करते धर्म होता हो, सो बात नहीं है।

प्रश्न—यदि एक आदमी पाप न करे और पुण्य भी न करे तो क्या हो ?

उत्तर—यदि पुण्य और पाप कुछ भी न करे तो कहना होगा उसे आत्मा की संपूर्ण पहिचान हो चुकी है और वी वीतराग कहलायेगा। धर्म तो आत्मा का स्वरूप है, वह बाह्य में नहीं है।

प्रश्न—हम सब श्रावक तो कहलाते हैं न ?

उत्तर—नाम से श्रावक कहे जा सकते हो, वास्तव में तो सर्वज्ञ भगवान का अनुयायी ही सच्चा श्रावक है।

प्रश्न—अपने बालकों को धर्म प्राप्त कराना हमारा कर्तव्य नहीं है ?

उत्तर—कोई किसी को धर्म प्राप्त करा ही नहीं सकता।

प्रश्न—सभी संसारियों को धर्म समझने के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—सबकी चिन्ता छोड़कर अपनी बात करनी चाहिये।

प्रश्न—मुझे धर्म समझने के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—शास्त्राभ्यास और सत्समागम करना चाहिये। सबेरे हमेशा धर्मशास्त्र का एक पाठ पढ़कर उसका ठीक अर्थ समझना चाहिये। यदि बिना समझे जीवन भर बोलता रहे और पढ़ता रहे तो भी कोई लाभ नहीं होगा।

प्रश्न—पहले कौन सी पुस्तक पढ़नी चाहिये ?

उत्तर—जैन सिद्धांत प्रवेशिका, मोक्षमार्गप्रकाशक, आत्मसिद्धि शास्त्र इत्यादि समझपूर्वक पढ़ना चाहिये।

प्रश्न—क्या शुभभाव करना, सो अज्ञान है ?

उत्तर—शुभभाव को धर्म मानकर अथवा लाभकारक मानकर करना, सो अज्ञानता है। अशुभ को टालने के भाव से आत्मा की पहिचान के साथ शुभभाव करना, सो योग्य है। बिना जाने समझे किये हुये शुभभाव, निश्चय से पाप की ही कोटि के हैं। आत्मा के गुण के लिये तो शुभभाव भी अच्छा नहीं है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं। धर्म अविकारी स्वरूप है। अशुभ से बचने के लिये पुण्य करने को कोई नहीं रोकता, किन्तु आत्मा की पहिचान धर्म से ही होती है।

प्रश्न—उधर तो मोक्ष नहीं जा सकता हो और इधर संसार भी इष्ट न हो तो क्या कोई बीच का भी मार्ग है ?

उत्तर—दूसरा कोई मार्ग नहीं है। या तो संसार हो सकता है या फिर मोक्ष।

प्रश्न—यदि कोई पुण्य ही करे और पाप बिल्कुल न करे तो पुण्य अच्छा कहलायेगा या नहीं ?

उत्तर—बिना भान के मात्र पुण्य नहीं हो सकता। यदि कदाचित् विशेषरूप से शुभभाव करे तो एकाध भव स्वर्गादि का प्राप्त करके उसके बाद के भव में आत्मभान के बिना (शुभभाव विकार है और विकार एकरूप स्थिर नहीं होता, इसलिये शुभभाव को बदलकर) अशुभभाव करके अनंत संसार को बढ़ायेगा। जो आत्मप्रतीति के साथ पुण्यभाव को करता है, वह पुण्यभाव को अपना नहीं मानता। इसलिये वह पुण्यभाव को छोड़कर शुद्धभाव में स्थिर होगा। कोई भी ज्ञानी अथवा अज्ञानी मात्र पुण्य में नहीं टिक सकता। निम्न दशा में पुण्यबंध के साथ ही साथ पापबंध होता है, मात्र पुण्यबंध नहीं हो सकता।

धर्म के लिये यह सारी बात प्रथम इकाई के समान है। पुण्य के मार्ग अनेक हैं, धर्म का मार्ग त्रिकाल में एक ही है। सम्यक्त्वी जीवों को पूर्ण स्वरूप की प्रतीति होती है किन्तु जिनके चारित्र में पूर्णता नहीं होती, उनके परभाव का (शुभाशुभभाव का) स्वामित्व छूट जाता है किन्तु शुभभाव होता है। उनके अंतरंग में इस प्रकार का निषेध भाव होता है कि 'यह मेरा स्वरूप नहीं है।'

प्रश्न—अशुभ कर्मों को दूर करने के लिये क्या तीर्थंकर भगवान को भी शुभभाव करने पड़ते हैं ?

उत्तर—यह प्रश्न ही योग्य नहीं है क्योंकि तीर्थंकर वीतराग होते हैं। वीतराग के शुभाशुभभाव हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—सम्यक्त्वी को आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है, फिर भी वह लड़ता क्यों है तथा उसके राग क्यों होता है ?

उत्तर—जब तक पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता, तब तक सम्यक्त्वी के राग होता है किन्तु वह राग को अपना नहीं मानता। अर्थात् वह उसका कर्ता नहीं होता, फिर भी जितना राग है, उतनी पुरुषार्थ की अशक्ति तो है ही।

प्रश्न—धर्म के लिये पूजा आवश्यक है या नहीं ?

उत्तर—पूजा अशुभभाव को छोड़नेमात्र के लिये शुभभाव में निमित्त है किन्तु उसमें धर्म नहीं होता। क्योंकि पूजा में भगवान के प्रति राग है और जो राग है, वह धर्म नहीं हो सकता।

प्रश्न—केवली भगवान को पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है, फिर भी वे संसार में क्यों अटके रहते हैं ?

उत्तर—उनके योग का कंपन होता है, इसलिये उतने अंश में उनके अपूर्णता है।

गुरुदेव के उद्‌गार

जब तक आत्मा की दरकार नहीं होती, तब तक अर्थ शून्य विचार उठते ही रहते हैं। मेरा क्या होगा ? क्या मेरा आत्मा यों ही भटकता रहेगा ? क्या मेरी और कोई गति नहीं है ? जब तक इस प्रकार अंतरंग से समझने की जिज्ञासा जागृत नहीं होती, तब तक उसे यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

प्रश्न—क्या आत्मप्रतीति होने के बाद गुरु की आवश्यकता रहती है ?

उत्तर—छठे गुणस्थान तक होती है (होती है और अवश्य रहती है, इस में अंतर है) अरे ! लोगों को धर्म का स्वरूप समझना कठिन हो गया है।

संवत् १९५२ में श्रीमद् राजचंद्र ने कहा था—''वर्तमान में जैनों में बहुत समय से एक आवरण पड़ा हुआ है, कोई ज्ञानी पुरुष है नहीं, बहुत समय से कोई ज्ञानी हुआ नहीं है, अन्यथा इसमें इतने अधिक कदाग्रह नहीं होते।''

व्याख्यान का सार

कर्म और आत्मा का एक क्षेत्र में रहना, सो अवगाहक्षेत्र संबंध है। आत्मा के एक-एक प्रदेश के साथ कर्म के रज-कण मौजूद हैं किन्तु वे आत्मा के साथ एकमेक नहीं हो जाते। आकाश की जगह की अपेक्षा से आत्मा में कर्म एकमेक हुये कहलाते हैं।

ज्ञान की क्रिया का निषेध नहीं किया है, शुभराग अथवा अशुभराग की क्रिया का तथा क्रोधादि का निषेध किया गया है। कर्म के संबंध का निषेध किया गया है।

प्रश्न—जहाँ कर्म जाता है, क्या वहाँ आत्मा को भी साथ ले जाता है ?

उत्तर—जब एक की ऐसी अवस्था होती है, तब दूसरे की भी वैसी ही अवस्था निमित्त-नैमित्तिक संबंध को लेकर होती है। फिर भी दोनों अपने-अपने स्वतंत्र कारण से साथ में जाते हैं। जब स्वयं विपरीत होकर विकारी भाव करता है, तब कर्म निमित्त कहलाते हैं। परमार्थतः कर्म आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते।

प्रश्न—वस्तु स्वरूप को समझने के बाद भी कर्म का फल तो भोगना ही पड़ता है न ?

उत्तर—कर्म का फल तो बाह्य संयोग मिलने पर ही निर्भर है, किन्तु यदि जीव विकारी भाव को दूर करना चाहे तो आंतरिक शुद्धभाव से दूर कर सकता है।

पूज्य गुरुदेव के उद्‌गार

अहो ! आत्मा का स्वरूप त्रिकाल पवित्र है। ऐसे जीव भी अनंत हैं जिनने अनादिकाल से कभी मनुष्य भव नहीं पाया। उनका आत्मा भी शक्ति की अपेक्षा त्रिकाल पवित्र मूर्ति है।

विपरीत मान्यता संसार है और सीधी मान्यता मोक्ष है। संसार और मोक्ष दोनों पर्याय में है। स्वभाव तो त्रिकाल निर्मल है और जो निर्मल है, वह त्रिकाल निर्मल ही है।

पुण्य, धर्म का नाशक (रोकनेवाला) है और धर्म, पुण्य का नाशक है।

पर से लक्ष्य छोड़कर 'स्व' के ऊपर लक्ष्य करना, सो सच्ची मान्यता है।

इस समय जैनधर्म का जहाज थपेड़ों में फँसता चला जा रहा है, उसे बचाने के लिये अच्छे नाविक (सद्‌गुरु और सत्समागम) की आवश्यकता है।

पाप को पाप तो सभी कहते हैं किन्तु ज्ञानीजन, पुण्य को भी पाप कहते हैं क्योंकि पुण्य और पाप दोनों बंधन भाव हैं, स्वभाव को रोकनेवाले हैं।

[संयुक्तांक १०-११-१२ से आगे]

आत्मस्वरूप का अज्ञान ही महापाप है

(श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी)

प्रकरण छट्ठा

कर्मचंद—मैं पर का भला बुरा कर सकता हूँ, सुख-दु:ख दे सकता हूँ यह मान्यता गलत है, उसे पाप कहते हैं सो भी ठीक है, किन्तु आप उसे महापाप क्यों कहते हैं ? (यह सच है कि जीव अपूर्ण अवस्था में पर को सुख दु:ख देने का भाव कर सकता है)

धर्मचंद—उसके महापाप होने का कारण यह है कि जीव दूसरे का कुछ कर नहीं सकता और अपना कर सकता है। यदि दूसरे का भी करने लगे तो स्वयं और पर एक हो जाय। क्योंकि जैसे वह अपना कर सकता है, उसी तरह यदि पर का भी करे तो पर अनंत वस्तुएँ हैं; इसलिये स्वयं और अनंत वस्तुएँ उसकी मान्यता में एक ही कहलायगी। जैसे वह अपना स्वामी है, वैसे ही अनंत परवस्तुओं का भी स्वामी हुआ। यह मान्यता अनादिकाल से चली आ रही है और इसीलिये वह परवस्तु में इष्ट-अनिष्टपन मानता है, इस प्रकार वह समस्त दु:खों का मूल होने के कारण महापाप है।

कर्मचंद—आपकी इस बात को मैंने समझ लिया है। मैं उसका सार कहे देता हूँ। देखिये, इसमें कहीं कोई अंतर हो तो हमें सूचित कीजियेगा।

धर्मचंद—भले कहिये।

कर्मचंद—आपने जो कहा है, उसका सार इस प्रकार है:—

(१) एक जीव, पर का कुछ भी नहीं कर सकता।

(२) स्वयं अपने में विकारी अथवा अविकारी भाव कर सकता है।

(३) जब तक संपूर्ण अविकारी भाव प्रगट नहीं होते, तब तक जीव को अशुभभाव दूर करके शुभभाव करना चाहिये, किंतु उस शुभभाव को धर्म नहीं मानना चाहिये।

(४) ऐसा करने से जो अनंत परवस्तुऐं हैं, उन पर का ममत्व अभिप्राय में से निकल जाता है और इससे जो दान, दया, तप, पूजा, सेवा इत्यादि करता है, वह अपने अशुभभावों को दूर करने के लिये तथा लोभ कषाय को कम करने के लिये करता है; वह पर के भले के लिये नहीं करता। इसलिये पर चाहे जैसी प्रवृत्ति करे तो भी निज को हर्ष-विषाद नहीं होता।

(५) स्वयं अपने में स्थिर रहने का प्रयत्न करता है और जब नहीं रह सकता, तब तीसरे पैरा में बताई गई मान्यता के साथ चौरा पैरा के कथनानुसार प्रवृत्ति करता है और जो राग शेष रहता है, उसमें अपना स्वामित्व नहीं मानता।

धर्मचंद—ठीक है, अब विशेष चर्चा कल करेंगे।

(दोनों अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।)

प्रकरण सातवां

आत्म स्वरूप के ज्ञायक सम्यग्दृष्टि साधक जीव के पुण्य का स्वरूप; क्या पुण्य का ठेका उनका है ?

कर्मचंद—इस संबंध में विचार करने पर प्रश्न उठता है कि तीर्थंकर नामकर्म ऐसा है कि जिस जीव के वह कर्म होता है, वह जरूर वीतराग हो जाता है। इसलिये जिस भाव से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है, वह भाव शुभभाव है, तब फिर उसे उपादेय क्यों नहीं मानना चाहिये ?

धर्मचंद—आपके प्रश्न का उत्तर देने के लिये पहले आपसे ही निम्नलिखित बातों के संबंध में जान लेना आवश्यक है—

(१) वह शुभभाव मिथ्यादृष्टि के होता है या सम्यग्दृष्टि के होता है ?

(२) उस शुभभाव को सम्यग्दृष्टि उपादेय—आत्मस्वरूप मानता है, या विकार मानता है ?

कर्मचंद—(१) वह भाव तो सम्यग्दृष्टि के ही होता है, मिथ्यादृष्टि के हो ही नहीं सकता।

(२) सम्यग्दृष्टि उस भाव को अपना स्वरूप नहीं मानता, जो उस भाव को निज स्वरूप मानता है, उसे तो उसका भाव हो ही नहीं सकता।

धर्मचंद—यह ठीक है, जो जो तीर्थंकर भगवान अपने पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं और उनके जो राग रह जाता है, उस भाव का निमित्त पाकर तीर्थंकर नामकर्म बँधता है।

कर्मचंद—तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि शुभभाव का ठेका सम्यग्दृष्टि ने ही लिया है।

धर्मचंद—उनका ठेका तो शुद्धता को प्रगट करने का है किंतु उसमें जब अपूर्णता होती है, तब सातिशय पुण्यप्रकृतियों का अवांछित वृत्ति से बंध हो जाता है। उसे यदि आप पुण्य का ठेका कहना चाहते हों तो भले कहे किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उस राग भाव को और तीर्थंकर प्रकृति को—दोनों को उपादेय नहीं मानते।

कर्मचंद—यह तो 'ज्यों ज्यों ढील दी त्यों त्यों हाथ में आता गया' ऐसी बात हुई। क्या सातिशय पुण्य का भी कोई दूसरा नाम है।

धर्मचंद—उस पुण्य को पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं। 'ज्यों ज्यों ढील दी त्यों त्यों हाथ में आता गया' जब ऐसा राग होता है, तब सम्यग्दृष्टि के ऐसा बनता है किन्तु वह उसका मालिक नहीं है। इसलिये उसके आया हुआ भी नहीं कहा जा सकता। सम्यग्दृष्टि तो मात्र उसका ज्ञाता दृष्टा है।

कर्मचंद—आत्मस्वरूप के अजान व्यक्ति को पुण्य होता है, उसका कोई विशेष नाम है ?

धर्मचंद—हाँ, उसे पापानुबंधी पुण्य कहा जाता है।

जीव को यदि दुःख से मुक्त होना हो तो उसे सूक्ष्म दृष्टि से यह निर्णय करना ही चाहिये कि दुःख कैसे होता है और वह कैसे छूट सकता है। अनादि काल से यह भूल चली आ रही है, पुण्य के स्वरूप को बराबर समझना चाहिये जिससे यह भ्रम दूर हो जाय कि 'पुण्य से धर्म होता है' और यह ज्ञात हो सके कि पुण्य की मर्यादा कितनी है ? पाप क्या है और उसमें महापाप क्या है ? इसके स्वरूप को समझना चाहिये। इस के बिना कभी भी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

कर्मचंद—उस पुण्य का स्वरूप क्या है ?

धर्मचंद—श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा २० में इस प्रकार कहा गया है—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण म ओमएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेणय पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥२०॥
पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मति मोहः।
मतिमोहेन च पाप तस्यात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु॥

अर्थ—पुण्य से धन होता है, धन से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धिभ्रम होता है और बुद्धिभ्रम होने से पाप होता है, इसलिये ऐसा पुण्य हमारे न हो।

टीकाकार कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव को पुण्य के फल से प्राप्त सम्पदा से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धिभ्रष्ट होती है, बुद्धिभ्रष्ट होने से पाप कमाता है और पाप से भव-भव में अनंत दुःख पाता है इसलिये मिथ्यादृष्टियों का पुण्य, पाप का ही कारण है।

सम्यक्त्वादि गुण सहित विवेकी जीव के पुण्यबंध अभिमान उत्पन्न नहीं करता। उन्हें चाहे जैसी महान् विभूति प्राप्त हुई हो तो भी वे मद अहंकारादि विकल्पों को छोड़कर सम्पूर्ण पवित्रता को प्रगट करते हैं। मिथ्यादृष्टियों को पुण्य का फल (विभूति) गर्व का कारण होता है, सम्यग्दृष्टियों को नहीं।

कर्मचंद—आपके कहने से तो यह स्पष्ट होता है कि जीव को यदि दु:ख से छूटना हो तो उसे सूक्ष्म दृष्टि से यह निर्णय करना ही चाहिये कि दु:ख क्यों कर होता है और वह कैसे मिट सकता है ? अनादिकाल से यह भूल चली आ रही है। पुण्य का स्वरूप ठीक ठीक समझ लेना चाहिये, जिससे यह भ्रम दूर हो जाय कि पुण्य से धर्म होता है और यह समझा जा सके कि पुण्य की मर्यादा कितनी है ? पाप क्या है ? और उसमें महापाप क्या है ? इसका स्वरूप समझना चाहिये। इसके बिना सच्चा सुख कदापि नहीं मिल सकता। जो पुण्य के स्वरूप को ही नहीं समझता, वह पुण्य कैसे करेगा।

जब कुछ शुभभाव होता है, तब उसका अव्यक्त अभिमान भी होता ही है। 'मैं पर का भला कर सकता हूँ' जब यह मानता है, तब नम्रता-करुणाबुद्धि होने पर भी यह भ्रम हो ही जाता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—मुझे वह करना ही चाहिये—वह मेरा कर्तव्य है और इस भ्रम से उसके भीतर अव्यक्त अभिमान हो ही जाता है।

धर्मचंद—ठीक है, वैसे अभिमान को शास्त्रीय परिभाषा में 'अनंतानुबंधी मान' कहते हैं।

कर्मचंद—यह ठीक है, क्योंकि यदि एक का भला किया जा सकता हो तो अनंत का भी किया जा सकता है। इसलिये वह अभिप्राय में अनंत परवस्तुओं का स्वामी हुआ। मैं सबका सेवक हूँ—ऐसा मानना, सो भूल है। सम्यग्दृष्टि जिस जिस शुभभाव में युक्त होता है, वह किसी के भले के लिये नहीं किन्तु अपने भले के लिये होता है अर्थात् अशुभराग को टालने के लिये पुण्यभाव करता है। राग हमेशा परलक्ष्य से होता है, इसलिये यदि पर को लाभ होना हो तो पर के अपने कारण से होता है। मैंने इस बात को भलीभांति समझ लिया है। इस प्रकार यह विषय पूर्ण होता है।

धर्मचंद—आप समझने की इच्छा रखते हैं, यह अनुमोदनीय है। इस मान्यता को लक्ष्य में रखकर उसे बारम्बार याद करना चाहिये। उसके लिये स्वाध्याय इत्यादि करना चाहिये, शास्त्रों के अर्थों की पद्धति को ठीक-ठीक समझना चाहिये, इससे उसकी मान्यता और ज्ञान अधिक निर्मल होगा। यदि वह जान लेगा कि सत् किस प्रकार का है तो वह असत् को दूर कर सकेगा।

पर्वाधिराज पर्यूषण पर्व

वैसे सुवर्णपुरी एक तीर्थधाम तो है ही किन्तु पर्यूषण के दिनों में वह साक्षात् धर्मक्षेत्र बन जाता है। पर्यूषण के दिन सुवर्णपुरी में पंचम नहीं किन्तु चतुर्थ काल की याद दिलाते हैं।

सुवर्णपुरी में क्या नहीं है, सब कुछ है। एक तरफ भव्य जिनालय है, जिसमें मूलनायक के रूप में श्री सीमंधर भगवान की अत्यंत भाववाहिनी प्रतिमाजी विराजमान हैं। जिनालय के पिछले भाग में अद्भुत समवसरण (धर्मसभा) है, जिसमें कुंदकुंद आचार्य सीमंधर भगवान का उपदेश ग्रहण कर रहे हैं। एक तरफ यह पवित्र दृश्य दिखाई देता है और दूसरी ओर जन्म-मरण के भयंकर रोग को दूर करने के लिये महामंगल मंदिर—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर है, जिसमें वीतराग की साक्षात् वाणी के समान परमागम श्री समयसारजी बिराजमान है; जिनकी विधिपूर्वक प्रतिष्ठा की गई है। इस प्रकार वहाँ सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र का अपूर्व सुमेल पाया जाता है।

यहाँ की बहुत बड़ी विशिष्टता यह है कि यहां पर परम पूज्य श्री कानजी स्वामी बिराजमान हैं। वे वीतराग प्रभु की छत्रछाया के नीचे व्याख्यान पीठिका पर बिराजमान होकर सत् धर्म का धारावाहिक उपदेश देते हैं, जिससे धर्मोपदेष्टा की एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति हो जाती है।

पर्यूषण के दिनों में इस धर्मक्षेत्र में धर्म लाभ लेने के लिये सैकड़ों धर्म प्रेमी आते हैं। इन दिनों में वास्तव में सुवर्णपुरी में सच्चा धर्मोत्सव मनाया जाता है। मुमुक्षुओं का धर्म प्रेम अद्भुत मालूम होता है। मूसलधार वर्षा के बीच में भींगते हुये भी अनेक भाई-बहिन इन महा पुरुष के मुख से बहते हुये धर्मबोध के प्रवाह को ग्रहण करने के लिये सहर्ष आते हैं और श्री कानजी स्वामी अत्यंत सुमधुर वाणी द्वारा बिल्कुल स्पष्टता से आत्मा का स्वरूप और धर्म की दुर्लभता इत्यादि समझाते हैं। उनके प्रवचन का कुछ सार यहाँ दिया जाता है—

(१) तू त्रिकाल स्पष्ट निर्मलानंद चैतन्य ज्योति एकरूप वस्तु है, उसमें बंध-मोक्ष का भेद नहीं है। इस प्रकार पंचम काल के अज्ञानी शिष्य के लिये आचार्यदेव ने कहा है।

(२) आत्मवस्तु स्वरूप के माहात्म्य के बिना और उसे जाने बिना अनंत काल में सबकुछ कर चुका है। दान, दया, तप, व्रत, हिंसा, चोरी इत्यादि सब कुछ अनंत बार कर चुका है। किन्तु अनंत काल में यह नहीं समझ पाया कि इस सबके उस पार आत्मा का स्वभाव क्या है। यदि यथार्थ स्वरूप को समझे तो रुचि हो, रुचि हो तो स्थिर हो और स्थिर हो तो संसार न हो।

(३) 'प्रभु! तू है, त्रिकाल है, अनंत काल में अनंत शरीर धारण किये हैं।' यह कहने पर उसे स्वीकार किया तो उसमें 'अनंत शरीर धारण किये हैं' इस अनंत का ख्याल एक क्षण में आ गया। 'यदि अनंत भव न किये होते तो अभी मुक्ति हो जाती, इससे अनंत भव हुये' यों निश्चित करनेवाला ज्ञान अनंत को जाननेवाला है और जिस ज्ञान ने अनंत को जाना है, उसमें वीर्य अनंत है, स्थिरता अनंत है, श्रद्धा अनंत है, समस्त गुणों की अनंतता एक साथ ही है।

जो ज्ञान एक क्षण में अनंत को जानता है, वह एक समय में भी अनंत को जानता है क्योंकि एक क्षण में असंख्यात समय हैं और एक क्षण में ज्ञान ने अनंत को जाना है। यदि उस अनंत के असंख्य भाग किये जावे तो अनंत आयेगा। इसलिये ज्ञान एक समय में-वर्तमान में अनंत को जानता है। प्रभु! अपनी प्रभुता को देख! यह तेरी प्रभुता का गान हो रहा है!!

(४) प्रभु, तू आत्मा और तेरे साथ कर्म का बंध, यह कहते हुये लज्जा मालूम होती है। तू एक और तुझे कर्म का बंध कहना, सो कलंक है। प्रभु, तू एक स्वतंत्र वस्तु है, तुझे रागद्वेष या कर्म का संग कहना, सो उचित नहीं मालूम होता। तेरे साथ बंधन कहना पड़ता है, यह खेद की बात है।

हमें इस बंधन की बात कहते हुये भी लज्जा मालूम होती है, तब तुम्हें सुनते हुये यह होना चाहिये कि अरे! मेरे कर्म का संग नहीं है। प्रभु, तेरे स्वरूप में कर्म नहीं है। एक तत्त्व का पर के साथ संग कहना, सो स्वतंत्रता की लूट है, इससे पराधीनता आती है। प्रभु! तेरे आत्मा को कर्म का संग त्रिकाल में भी नहीं है।

(५) सम्यग्दर्शन में न तो रागद्वेष का भरोसा है और न निर्मल पर्याय का ही। इतना ही नहीं किन्तु सम्यग्दर्शन का अपना भी भरोसा नहीं है किन्तु एक क्षण में परिपूर्ण अनंत गुणों का पिंड जो अखंड वस्तु है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है।

(६) अन्य पांच द्रव्यों (धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, और परमाणु) के दुःख नहीं और तुझे दुःख है ऐसा कहना—बंधनबद्ध कहना, सो लज्जा की बात है—खेद की बात है। तुझे अपने शाश्वत टंकोत्कीर्ण स्वरूप की स्वाधीनता का भान नहीं है और पर के आश्रय को मान रहा है, यह तुझे शोभा नहीं देता। इसलिये अब तू अपने अकेलेपन में आ जा और द्वित्व को छोड़ दे। तू चैतन्य राजा है, तब तुझे पर का तावेदार कहना संगत नहीं मालूम होता।

(७) स्वरूप की प्रतीति सहित परिग्रह की मर्यादा करनेवाले की दृष्टि में तो अभाव है ही, वह अस्थिरता होने के कारण मर्यादा करता है। उसकी दृष्टि तो वीतरागता पर ही है, उसकी अनंत

गुण पर रुचि है और स्व की रुचि वाले को परपदार्थ की किंचित्मात्र भी रुचि नहीं है। अस्थिरता होने से अल्प आसक्ति होती है किन्तु दृष्टि में तो अभाव की ही इच्छा करता है।

(८) यह तीसमारखां का बेटा भव का भाव रखकर भव में भ्रमण किया करता है किन्तु इस भाव से एक भी भव नहीं किया कि मुझे 'भव का भाव नहीं चाहिये' यदि एक बार भी यह कह दे कि 'भव नहीं, भव का भाव नहीं' तो उसे भव हो ही नहीं। 'मेरे स्वरूप में भव नहीं है, भव का भाव भी नहीं है और अब भव भी नहीं है। इस प्रकार भव का भाव तोड़कर एक भी भव को पलट दे तो उसके भव हो ही नहीं।

(९) भगवन्! तू अनंत काल से अपने आत्मतत्त्व की प्रतीति के बिना संसार में भटक रहा है। पर की महिमा में निज की महिमा अंतर्भूत हो गई है। देखनेवाले ने देखनेवाले को नहीं जान पाया और परवस्तु में सुख को मान बैठा है, इसलिये स्वभाव की अनंत शांति को पलटकर अनंत आकुलता का संवेदन कर रहा है।

(१०) अरे! तुझे यह नहीं दिखाई देता कि यह आशा तो प्रत्येक क्षण में नई नई बदलती जा रही है। जो क्षण क्षण में बदलती रहती है, वह विकार है। एक रूप नहीं, इसलिये वह करने योग्य नहीं है। क्या तुझे ऐसा नहीं लगता कि जो भीतर त्रिकाल एकरूप स्वभाव मौजूद है, उसी की प्रतीति करनी होगी।

उपरोक्त दश उपदेश वचन श्री कानजी स्वामी द्वारा दिये गये पर्यूषण पर्व में समयसारजी के प्रवचन में से ग्रहण करके लिखे गये हैं।

असके अतिरिक्त श्री कानजी स्वामी दोपहर में सत्तास्वरूप पर प्रवचन करते थे। इस प्रकार पूज्य श्री कानजी स्वामी की अद्भुत धर्म वाणी का लाभ आबाल, वृद्ध सभी को प्राप्त हुआ था। सायंकाल को मंदिर जी में भक्ति होती थी, जिसमें देव-गुरु की स्तुति, स्तवन, पद इत्यादि उत्साहपूर्वक गाये और गवाये जाते थे।

हमेशा सबेरे और रात्रि को धार्मिक प्रश्नोत्तर होते थे; जिसमें बहुत बड़ी संख्या में पुरुष उपस्थित होते थे और अपनी शंका का समाधान प्राप्त करते थे। रात्रि में चर्चा से पहले हमेशा प्रतिक्रमण होता था, जिसमें सैकड़ों मुमुक्षु लाभ लेते थे। विगत संवत्सरी के दिन लगभग ७०० भाईयों ने प्रतिक्रमण में भाग लिया था। पर्यूषण के दिनों में दो बार जुलूस निकला था जिसमें करीब २००० भाई-बहिनों ने अत्यंत उल्लासपूर्वक भाग लिया था।

इस प्रकार सुवर्णपुरी के धर्मक्षेत्र में विगत वर्ष और उससे भी अधिक उत्साह पूर्वक गत वर्ष पर्यूषण पर्व मनाया गया था। इस वर्ष और भी अधिक धार्मिक आयोजनों के साथ पर्यूषण पर्व मनाया जायेगा। पर्यूषण पर्व की शोभा का मूल तो स्वाध्याय मंदिर में ही है। इस मूल के द्वारा समस्त वृक्ष को जो संपुष्टि मिली है, वह बाहर अप्रगट नहीं है।

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी सुवर्णपुरी में निरंतर धर्म का उपदेश देकर शासन पर महान उपकार कर रहे हैं। उनकी वाणी को सुनना भी जीवन की सार्थकता है। उनके उपदेश की नींव में आत्मा के स्वरूप की यथार्थ समझ विद्यमान है। सचमुच ही यह सत्पुरुष पंचम काल में भरतक्षेत्र में अद्वितीय धर्मवीर प्राप्त हुआ है और भरतक्षेत्र में इन धर्मवीर ने धर्म काल प्रवर्तित कर दिया है।

वे धर्मवीर त्रिकाल जयंवत हो, जिनने शासन का प्रचार किया है।

वीतराग-वाणी

श्रुत पंचमी पर परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से

श्री जयधवला में, चारित्र कैसा होता है इसका कथन है, संयम के निर्वाह के लिये आहार की वृत्ति अथवा पंच महाव्रत पालन करने का विकल्प भी निश्चयचारित्र का भंग है। निश्चयचारित्र का स्वरूप कहा जायेगा। केवलज्ञानी के द्वारा कही गई यह बात है। केवलज्ञान को प्राप्त करनेवाले आचार्यों ने इसका संग्रह किया है, वही यहाँ कही जा रही है, किसी की शक्ति नहीं है जो इसे बदल सके।

प्रत्याख्यान—द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव से लगे हुये दोषों का त्याग करना, सो प्रत्याख्यान है अथवा समस्त प्रकार के दोषों से मुक्त होकर स्वरूप में ही स्थित रहने की प्रतिज्ञा करना, सो प्रत्याख्यान है। और एक बार स्वरूप की स्थिरता हो जाने के बाद उससे चलित होना, सो अप्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमण—अप्रत्याख्यान से अलग होना, सो प्रतिक्रमण है। अर्थात् प्रत्याख्यान में लगे हुये दोषों से (अस्थिरता से) अलग होकर स्वरूप में पुनः स्थिर होना, सो प्रतिक्रमण है।

मुनि, समाधिमरण के समय निर्दोष आहार की वृत्ति का अथवा महाव्रत के शुभभाव का भी त्याग करते हैं; उसे यहाँ पर प्रतिक्रमण कहा है। इसलिये शिष्य के प्रश्न उठता है कि—

शिष्य का प्रश्न—समाधि के समय मुनि, आहारादि का त्याग करते हैं, इसलिये वह प्रत्याख्यान कहा जा सकता है किन्तु उसकी जगह आपने उसे प्रतिक्रमण कैसे कहा?

उत्तर—समाधिमरण के समय मुनि को प्रतिक्रमण कहा है, उसका कारण यह है कि—जो स्वयं प्रतिक्रमण न हो किन्तु प्रतिक्रमण जैसा हो, उसे भी उपचार से प्रतिक्रमण कहा जाता है। इसलिये यहाँ पर मुनि जो समाधिमरण करते हैं, उसके उपचार से प्रतिक्रमण के रूप में स्वीकार किया है।

मुनि, समाधि के समय विचार करते हैं कि—परम वीतरागदशा के अतिरिक्त जो कुछ भी संयम, व्रत अथवा महाव्रत के पालन करने की वृत्ति जागृत होती है, वह हमारे प्रत्याख्यान में भंगरूप ही है। हमारा प्रत्याख्यान तो वीतरागता को प्रगट करके केवलज्ञान को प्रगट करना था। हमारे प्रत्याख्यान में साधक और साध्य के बीच (चारित्र और वीतरागता के बीच) अंतर हो ही नहीं सकता।

अहा! तनिक देखो तो इस मुनिदशा को! मुनित्व और केवलज्ञान के बीच कोई अंतर है नहीं, ऐसा मुनित्व का स्वरूप स्थापित किया है। निर्ग्रन्थ मुनित्व में निर्दोष आहार की अथवा पंच महाव्रत की जो वृत्ति आती है, सो वह प्रत्याख्यान में भंगरूप है। पहले जब हमने मुनित्व ग्रहण किया और सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पदशा में स्थिर हुये, तब हमने चारित्र ग्रहण किया था। उस चारित्र में सातवें से सीधे वीतराग ही हो जाने की बात थी। छठे गुणस्थान में वापस आने की बात ही नहीं थी। हमारा ऐसा चारित्र (प्रत्याख्यान) था, परंतु अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण हम पुनः छठे गुणस्थान में आये और इस प्रकार हमारे चारित्र का भंग हुआ। यों हमारे निश्चयचारित्र के प्रत्याख्यान में दोष लगा है, उस दोष का समाधिमरण के समय त्याग किया जाता है। इस अपेक्षा से उसे प्रतिक्रमण कहा है, यों आचार्य भगवान ने कहा है।

सामान्य प्रत्याख्यान में बीच में कोई भेद हो ही नहीं सकता, उसके बीच में कोई वृत्ति नहीं आ सकती। जैसा शुद्ध स्वभाव है, वैसी ही शुद्धपर्याय हो जाती है, वही प्रत्याख्यान है।

सातवें गुणस्थान के बाद जो छठा गुणस्थान आया, वह चारित्र में भंग हुआ कहलाता है, वही प्रत्याख्यान में दोष लगा कहलाता है। निश्चय महाव्रत में सत्य, दयादि समस्त विकल्पों का त्याग है। पाँच महाव्रत भी व्यवहार है, उसका भी त्याग है।

आत्मा का शुद्धस्वभाव बिल्कुल निर्विकल्प है, उसमें कोई वृत्ति आये, तो उस सबका हमने साधु होते समय (निर्विकल्प होने के समय) प्रत्याख्यान किया था और हमने तो वस्तु में ही स्थिर हो जाने का निश्चय किया था। हमारे चारित्र और केवलज्ञान के बीच कोई भेद नहीं था। इस प्रकार बीच का विकल्प तोड़ देता है—इनकार करता है कि हमने तो ऐसा चारित्र ग्रहण किया था जिससे उसी क्षण वीतरागता आ जाय, किन्तु क्या किया जाय ? हमारी शक्ति की निर्बलता के कारण निर्दोष आहार लेने की वृत्ति आ गई, वह भी हमारे निश्चय महाव्रत में भंग पड़ा है।

ओहो ! देखो तो इस दशा को, लोगों के भाग्य को तो देखो, मानों साक्षात् वीतराग की वाणी है। कान में बात के पड़ते ही भीतर झनझनाहट हो जाती है कि मानों केवलज्ञान आ गया। संतों ने अपने हृदयकुंड में वीतराग के पेट का अमृत भर रखा है और उसका प्रवाह यहाँ पर बहता हुआ छोड़ दिया है। अहो ! जगत् का यह भाग्य है कि वीतराग की वाणी रह गई है। आचार्य भगवान कहते हैं कि—हमारा कार्य तो इतना था कि विकल्प को तोड़कर सातवें गुणस्थान में जहाँ स्वरूप की रमणता में बलपूर्वक स्थिर हुये, वहाँ से छठे गुणस्थान में वापिस आने की बात ही नहीं थी, वहाँ से सीधी वीतरागता ही प्राप्त करनी थी। यहाँ तो छठे गुणस्थान में आने का खेद है।

सामान्य प्रत्याख्यान में तो भंग होता ही नहीं, किन्तु बीच में (छठे गुणस्थान में आने से) भंग पड़ गया है, इसलिये प्रतिक्रमण आता है। यदि सामान्य प्रत्याख्यान एकरूप रहा होता तो मुनि के प्रतिक्रमण नहीं कहलाता। मरण समय के प्रतिक्रमण से तो वास्तव में सामान्य प्रत्याख्यान में पड़े हुये भंग की संधि की है।

आज श्रुतपंचमी है, आज ज्ञान की आराधना का दिन है, आज क्या नहीं समझा जाता ! आज तो केवलज्ञान हो सकता है। इस हिसाब बही में वापिस होने की बात ही नहीं है। आज श्री भूतबलि और पुष्पदंत आचार्यों ने श्रुत की पूजा की थी, यह श्रुतपूजा का दिन है।

वास्तव में मुनि के समाधि के समय प्रत्याख्यान होता है, किन्तु मुनिदशा के समय लिये हुये सामान्य प्रत्याख्यान में से चलित हो जाने के कारण पूर्व के प्रत्याख्यान का ज्ञान कराने के लिये उसके प्रतिक्रमण कहा गया है क्योंकि जहाँ प्रतिक्रमण होता है, वहाँ पहले प्रत्याख्यान होना

चाहिये। उस प्रत्याख्यान में भंग पड़ा, इसलिये प्रतिक्रमण है। इस प्रकार पूर्व का प्रत्याख्यान याद आता है। यहाँ पर प्रथम मुनिदशा के समय लिये गये सामान्य प्रत्याख्यान और समाधिमरण के बीच संधि कराने के लिये प्रतिक्रमण कहा गया है। वास्तव में तो समाधि के समय मुनि के चारित्र और केवलदशा के बीच के अंतर का नकार किया है। यद्यपि इस भव में केवलज्ञान नहीं है किन्तु इस समाधिमरण से मुनिगण केवलज्ञान के साथ संधि करते हैं, यों आचार्यदेव ने कहा है।

॥ सूचना ॥

यद्यपि 'आत्मधर्म' के गतांक में सूचना दी गई थी कि आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा तक आपकी ओर से दूसरे वर्ष का चन्दा नहीं आयेगा तो आत्मधर्म का १५ वाँ अंक बी.पी. से भेजा जायगा किन्तु डाक हड़ताल से आप अपना चंदा नहीं भेज सकें और न हम आपको यह अंक वी.पी. से भेज सकते हैं।

अत: १५ वां अंक वैसा ही भेजा जा रहा है। आशा है, हड़ताल खुलते ही कृपालु ग्राहक अपना चंदा म. ओ. से भेज देंगे अथवा उनके नाम 'आत्मधर्म' का आगमी अंक वी.पी. से पहुँचेगा तो वे उसे छुड़ा लेंगे।

ATMADHARMA With the permission of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

卐 श्री गुरु स्तुति 卐

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव जलधि जिहाज।
आप तिरहिं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज॥ ते गुरु०॥
मोह महा रिपु जानिके, छांडयो सब घर-बार।
होय दिगम्बर वन बसे, आतम शुद्ध विचार॥ ते कुंद प्रभु०॥
रोग उरग-बिल वपु गिण्यो, भोग भुजंग समान।
कदली तरु संसार है, त्याग्यो सब यह जान॥ ते गुरु०॥
रत्नत्रय निधि उर धरें, अरु निर्ग्रंथ त्रिकाल।
मार्यो काम खवीस को, स्वामी परम दयाल॥ ते कुंद प्रभु०॥
पंच महाव्रत आदरें, पांचों समिति समेत।
तीन गुपति पालें सदा, अजर-अमर पद देत॥ ते गुरु०॥
धर्म धरें दसलाछनी, भावें भावन सार।
सहैं परीसह बीसदो, चारित रतन भण्डार॥ ते कुंद प्रभु०॥
जेठ तपै रवि आकरौ, सूखें सरवर नीर।
शैल-शिखर मुनि तप तपैं, दाझें नगन शरीर॥ ते गुरु०॥
पावस रैन डरावनी, बरसै जल धरधार।
तरुतल निवसें तब यती, बाजै झंझा व्यार॥ ते कुंद प्रभु०॥
शीत पड़ै कपि मद गलै, दाहै सब वनराय।
ताल तरंगिनि के तटै, ठाड़े ध्यान लगाय॥ ते गुरु०॥
इहिविधि दुर्द्धर तप तपै, तीनों काल मंझार।
लागे सहज सरूप में, तनसों ममत निवार॥ ते कुंद प्रभु०॥
पूरव भोग न चिंतवें, आगम बांछें नाहिं।
चहुंगति के दुख सों डरें, सुरति लगी शिव माहिं॥ ते गुरु०॥
रंगमहल में पोढते, कोमल सेज बिछाय।
ते पच्छिम निशि भूमि में, सोवें संवरि काय॥ ते कुंद प्रभु०॥
गज चढि चलते गरवसों, सेना सजि चहुरंग।
निरखि निरखि पग वे धरें, पालें करुणा अंग॥ ते गुरु०॥
वे गुरु चरण जहां धरें, जगमें तीरथ जेह।
सो रज मय मस्तक चढ़ो 'भूधर' मांगे एह॥ ते कुंद प्रभु०॥

श्री जिनेन्द्र स्तवन मंजरी पृष्ठ-३०४

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.०४-०८-४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड